मार्च १९९० हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

संवेदना

(१०)

स्रव कहते हैं बहने को। आस्रव का अर्थ हुआ बहाव। नासूर में से जो द्रव सतत बहता रहता है उसे आस्रव कहते हैं। चित्तधारा में विकारों की जो गंदगी बहती है वह भी नासूर के फोड़े की पीप जैसी ही है। इसीलिए आस्रव कहलाती है। मन मैला हो तो उसमें आस्रव बहता है। आस्रव बहता है तो मन और मैला होता है। मैला मन दुखी होता है। अतः सास्रव व्यक्ति दुखी है। अनास्रव दुख-विमुक्त को कहते हैं।

आस्रव हमें दुखी बनाता है। तो भी हम बार बार मन में आस्रवों का प्रजनन करते रहते हैं और दुखी होते रहते हैं। मानो आस्रव जगाने और दुखी रहने का हमें एक व्यसन लग गया। मानो हम पर आस्रव का एक नशा छा गया। सचमुच आस्रवों का अपना एक नशा ही होता है। इसीलिए नशीले पदार्थ के अर्थ में भी आस्रव शब्द का प्रयोग होता है। कामक्रोध आदि विकारों का कितना गहरा नशा छा जाता है। बुद्धि के स्तर पर खूब समझते हैं - यह विकार हानिकारक हैं, दुखजनक हैं, पर फिर भी उन्हें जगाते ही रहते हैं। चाहते हुए भी इनसे बाहर नहीं निकल पाते। यह नशा ही है। व्यसन ही है। बहुत गहरा व्यसन है। यह नशा, यह व्यसन मादक पदार्थों के नशे-व्यसन जैसा है, परन्तु उससे अधिक मात्रा में गहरा है। शराबी हो या गँजेड़ी-भँगेड़ी, अफीमची हो या चिलमची-चरसची, वह बेचारा अपने व्यसन से कितना व्याकुल रहता है। ऐसी ही व्याकुलता मनोविकारोंके नशेबाज किसी सास्रव की होती है। मादक पदार्थों का कोई कोई नशेबाज अपने मनोबल से कदाचित इस व्यसन से मुक्त भी हो जाय परन्तु इन मानसिक आस्रवों का नशेबाज इस व्यसन से मुक्त हो सके, यह अत्यंत कठिन काम है।

कोई व्यक्ति एक वैज्ञानिक की तरह कठोर परिश्रम कर के अपनी समझदारी से सच्चाई का अनुसंधान करके अनास्रव होने का कोई मार्ग ढूंढ लेता है, कोई विधि ढूंढ लेता है और उसके द्वारा स्वयं अपने आपको अनास्रव बना लेता है। ऐसा ही व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, जीवनमुक्त अर्हंत कहलाता है। ऐसा मुक्त व्यक्ति अत्यंत करुणचित्त से आस्रवों में अनुरक्त दुखियारे लोगों को आस्रवमुक्त होने के लिए वही मार्ग प्रदर्शित करता है, जिस पर चलकर वह स्वयं अनास्रव हो सका। यही है वह विपश्यना विधि जिसे कोई अनास्रव लोककल्याण के लिए प्रकट करता है।

सारी अंध दार्शनिक मान्यताओं को एक ओर रखकर कोई व्यक्ति जब इस विपश्यना विधि का अभ्यास करना शुरू करता है तो एक शोध-वैज्ञानिक की तरह सत्य का अनुसंधान ही शुरू करता है। आजकल का सत्यान्वेषी वैज्ञानिक अधिकांशतः बाहर की ही किसी सच्चाई का अनुसंधान करता है और बाहर के ही किन्हीं उपकरणों के आधार पर करता है। परन्तु अनास्रव होने की विपश्यना विधि का वैज्ञानिक अन्वेषक किसी बाहरी वस्तु का अनुसंधान करने के बजाय अपने भीतर की सच्चई का अनुसंधान करता है। किन्हीं बाह्य उपकरणों के सहारे अनुसंधान करने की बजाय स्वयं अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति का सहारा लेकर अनुसंधान करता है।

अनुसंधान करने के लिए उसे अपने साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर शरीर और चित्त का मिला जुला क्षेत्र प्राप्त होता है। अनुभूतिजन्य यथाभूत सच्चाइयों को देखते देखते वह ऐसी अवस्था पर जा पहुँचता है जहां उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि जैसे ही चित्तधारा पर कोई विकार स्रवित हुआ, वैसे ही शरीर में भी कोई जीवरसायन (बायोकेमिकल) प्रतिक्रिया होने लगी। शरीर की रक्तवाहिनी धमनियों में कोई एक स्राव रक्तमिश्रित होकर बहने लगा जिससे कि शरीर में कोई संवेदना होने लगी। साधक देखता है कि इस आस्रव से जो संवेदना प्रकट हुई वह मन के विकार को बल प्रदान करती है और मन का विकार इस स्रव के बहाव को और उसके द्वारा जागी हुई इस संवेदना को बल प्रदान करने लगता है। यों यह अन्योन्याश्रित दुष्चक्र चल पड़ता है और मन का विकार बढ़ते जाता है। हमें देर तक अपने शिकंजे में जकड़े रखता है। अपना गुलाम बनाए रखता है। उदाहरण स्वरूप कामवासना का जो बहाव मन पर बहना शुरू हुआ उसी ने भौतिक शरीर पर भी एक स्राव बहाया जिसने बदले में कामवासना के स्वभाव को और पुष्ट करना शुरू किया। धीरे धीरे मन इस कामास्रव के प्रति इस कदर आसक्त हो गया कि उसकी यह आसक्ति तोड़नी कठिन से कठिनतर होती चली गयी। ऐसा व्यक्ति कामास्रव का गुलाम हो गया। उसे कामास्रव का व्यसन लग गया। ठीक यही बात क्रोध, भय, अहंकार आदि अन्य विकारों की भी है। सामान्य व्यक्ति जानता ही नहीं कि मन पर जागा हुआ हर विकार शरीर पर एक जीवरसायनिक प्रतिक्रिया शुरू कर देता है जिससे उस विकार का संवर्धन होने लगता है। हर विकार चित्त की समता को नष्ट करता है। अतः चित्त को व्याकुल बनाता है। उसकी व्याकुलता के उद्गम और संवर्धन के इस क्रम को वह समझता ही नहीं। परंतु यदि कोई व्यक्ति इस प्रपंच-प्रक्रिया को समझ भी ले और स्वीकार भी कर ले तो भी इस गिरफ्त के बाहर कैसे निकले?

विपश्यना इस प्रपंच की अनुभूतिजन्य जानकारी ही नहीं देती, बल्कि इस दुश्चक्र को तोड़ कर इसके बाहर निकलने का राह भी सुझाती है। शरीर पर प्रकट होनेवाली संवेदनाएं ही इस कार्य में सहायक बनती हैं। यह वही जीवरसायनिक संवेदनाएं हैं जिनकी वजह से विकार और विकारजन्य व्याकुलता बढ़ा करती है। अब विपश्यना का होश जागने पर वही संवेदनाएं हमारे मनोविकार और तज्जन्य व्याकुलता को नष्ट करने का उपाय बन जाती हैं।

दुष्चक्र को तोड़ने के लिए विपश्यना हमारे शरीर पर होनेवाली संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखना सिखाती है। जहां पहले इन्हीं संवेदनाओं ने हमे आसक्त बना दिया था, उनके प्रति भोक्ताभाव प्रबल हो गया था, वहां अब इन्हीं संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखने का अभ्यास शुरू हो जाता है। सफलता-असफलता के उतार-चढ़ाव में से गुजरता हुआ साधक धीरे धीरे संवेदनाओं की गिरफ्त को दुर्बल करने लगता है। पहले जिन संवेदनाओं के प्रति जागनेवाले विकरों की गहरी प्रतिक्रिया मानस पर पत्थर की गहरी लकीर सी बनाया करती थी, वह अब बालू की लकीर सी बनाने लगी और समय पाकर पानी की लकीर बनाकर रह गयी। उनका प्रभाव क्षीण हो गया। साधक इस प्रकार उन आस्रवों की आसक्तियों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। विकार नहीं जागते तो आस्रव नहीं जागते। आस्रव नहीं जागते तो मोह-मूढ़ता का नशा नहीं जागता। निर्विकार हो जाता है तो अनास्रव हो जाता है, जीवनमुक्त हो जाता है, सर्वथा दुखमुक्त हो जाता है।

हम देखते हैं कि किस प्रकार साधारण नशेबाजों के मदिरा और ब्राउनसूगर के नशे देर सबेर विपश्यना द्वारा दूर हो जाते हैं। हर नशे की अपनी एक विशिष्ट शारीरिक संवेदना होती है। ऊपर ऊपर से यों लगता है कि इस व्यक्ति को अमुक मादक पदार्थ का व्यसन है परन्तु वास्तविकता यह है कि उसे अमुक प्रकार की शारीरिक संवेदना का व्यसन है। उस व्यसन का शरीर की संवेदना से गहरा संबंध है। हर व्यक्ति जैसे जैसे संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखने का आदी होते जाता है वैसे वैसे व्यसन की जकड़न ढीली पड़ती है और अन्ततः व्यसनमुक्त हो जाता है।

जैसे मादक पदार्थों का व्यसन वैसे ही काम, क्रोध, मोह आदि विकारों का व्यसन, उनसे उत्पन्न होनेवाले आस्रवों का व्यसन इन आस्रवों से उत्पन्न होने वाली शारीरिक संवेदनाओं का व्यसन। इन मनोविकारों के

व्यसनों का शरीर की संवेदनाओं से गहरा संबंध है। विपश्यना के अभ्यास द्वारा संवेदना के अनित्य स्वभाव को स्वानुभूति द्वारा तटस्थभाव से देखते देखते इन विकारों की जकड़न ढीली पड़ने लगती है और परिणामतः इन विकारों की पीड़ाओं से मुक्ति मिलने लगती है। इन विकरों से पूरा पूरा मुक्त हो जाने का मार्ग लंबा है, कठिन है। पर असंभव नहीं, असाध्य नहीं। संतोषजनक बात यह है कि संवेदनाओं को देखते देखते इन विकारों की जकड़न जितनी ढीली होती जाती है, साधक स्वयं देखता है कि वह उतना उतना ही मुक्त हुए जा रहा है। याने संवेदनाओं को देखने का अभ्यास भले थोड़ा भी करे, तो थोड़ी ही दुखमुक्ति अनुभव करने लगता है। अभ्यास ज्यादा करे तो विकारों से होनेवाली दुःखों की विमुक्ति और अधिक होने लगती है। तब अपने अनुभवों से ही यह विशवास जागता है कि इस रास्ते पर चलते चलते एक दिन सारे विकारों से छुटकारा पा ही लेंगे। परन्तु बड़ी निष्ठा से, लगन से, धैर्य से स्वयं परिश्रम-पुरुषार्थ करना होगा। किसी की कृपा से मुक्ति नहीं मिलती। किसी की कृपा इतनी ही बहुत है कि उसने स्वयं जानकर हमें रास्ता बता दिया। अब चलना तो हमारा काम है। जितना जितना चलेंगे, उतना उतना लाभान्वित होते ही जाएंगे।

साधकों, आओ! दुखविमुक्ति के इस कल्याणकारीमार्ग पर कदम कदम चलते ही रहें और अपनी स्वस्ति-मुक्ति साध लें!

कल्याणमित्र,

स.ना.गो.